आचार्य पूज्यपाद कृत

समाधितन्त्र

ॐ

Pandit Nathuram Premi Research Series Volume 5

Ācārya Pūjyapāda's

SAMĀDHITANTRA

Hindi translation by
Dr. Jaykumar Jalaj

Edited by
Manish Modi

Hindi Granth Karyalay
Mumbai
2008

"Samādhitantra"
By Ācārya Pūjyapāda
Pandit Nathuram Premi Research Series Volume 5
Hindi translation by Dr. Jaykumar Jalaj
Edited by Manish Modi
Mumbai: Hindi Granth Karyalay, 2008
ISBN 978-81-88769-06-3

Cover Photo: **Bāhubalī**, Rashtrakuta, 9th century CE
Photo reproduced by the kind permission of:
'The Trustees, Chhatrapati Shivaji Maharaj Vastu Sangrahalaya
(formerly Prince of Wales Museum of Western India), Mumbai'.

HINDI GRANTH KARYALAY
Publishers Since 1912
9 Hirabaug CP Tank
Mumbai 400004 INDIA
Phones: +91 22 2382-6739, 2035-6659
Email: gommateshvara@gmail.com
Web: www.hindibooks.8m.com
Web: www.gohgk.com
Blog: hindigranthkaryalay.blogspot.com
Yahoogroup: groups.yahoo.com/group/Hindibooks
Yahoogroup: groups.yahoo.com/group/JainandIndology

Third Edition: 2008
Copyright: Hindi Granth Karyalay

Library of Congress Cataloging in Publication Data

Pūjyapāda

Title : Samādhitantra; tr. by Jaykumar Jalaj
I. Jainism II. Title
III. Series: Pandit Nathuram Premi Research Series; 5
294.4 - dc22

This book is not for sale
Cost Price: Rs. 20/-

Printed in India by Trimurti Printers, Mumbai

ॐ

पण्डित नाथूराम प्रेमी रिसर्च सिरीज़ वॉल्यूम १

आचार्य पूज्यपाद कृत

समाधितन्त्र

हिन्दी अनुवाद
डॉ. जयकुमार जलज

संपादन
मनीष मोदी

हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय
मुम्बई
२००८

प्रकाशकीय

पं. नाथूराम प्रेमी रिसर्च सिरीज़ के तहत हम अब तक आचार्य समन्तभद्र कृत **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, आचार्य पूज्यपाद कृत **समाधितन्त्र** एवं **इष्टोपदेश**, आचार्य कुन्दकुन्द कृत **अट्ठपाहुड** एवं **बारस अणुवेक्खा**, आचार्य जोइन्दु कृत **परमात्मप्रकाश** तथा **योगसार**, आचार्य प्रभाचन्द्र कृत **तत्त्वार्थसूत्र** और आचार्य नेमिचन्द्र कृत **द्रव्यसंग्रह** को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर चुके हैं।

हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय के लिए इन ग्रन्थों के अनुवाद हमारे विशेष अनुरोध पर ख्यात साहित्यकार डॉ. जयकुमार जलज ने किया है, मध्य प्रदेश शासन द्वारा प्रकाशित जिनकी पुस्तक '**भगवान महावीर का बुनियादी चिन्तन**' अपने प्रकाशन के छह साल के भीतर ही अठारह संस्करणों और अनेक भाषाओं में अपने अनुवादों तथा उनके भी संस्करणों के साथ पाठकों का कण्ठहार बनी हुई है।

यह महज़ संयोग ही नहीं है, कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** की टीका लिखने के बाद **समाधितन्त्र** की भी टीका लिखी। आचार्य प्रभाचन्द्र के हज़ार साल बाद डॉ. जयकुमार जलज ने **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** का हिन्दी अनुवाद करने के बाद **समाधितन्त्र** का भी अनुवाद किया। दरअसल यह जीवन को उसकी समग्रता में समझने की स्वाभाविक इच्छा का परिणाम है।

समाधितन्त्र का डॉ. जयकुमार जलज कृत यह अनुवाद आचार्य समन्तभद्र के **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** के उनके अनुवाद की तरह ही मूल रचना का अनुगामी है। इसमें कहीं भी अपने पाण्डित्य का हौआ खड़ा करने का तत्त्व नहीं है। शब्दप्रयोग के स्तर पर ही नहीं, वाक्य संरचना के स्तर पर भी यह बेहद सहज और ग्राह्य है। ग़ैर ज़रूरी से परहेज़ इसका ध्येय वाक्य है। इसलिए अनुवाद में एक ऐसी भाषा का इस्तेमाल है जैसी संस्कृत अथवा मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाओं के हिन्दी अनुवादों में साधारणत: प्रयुक्त नहीं मिलती। यह अनुवाद आतंकित किये बिना सिर्फ़ वहीं तक साथ चलता है जहाँ तक ज़रूरी है और फिर आत्मसाधना के इस स्थितप्रज्ञ ग्रन्थ (समाधितन्त्र) का सहज सान्निध्य पाठक को सौंपता हुआ नेपथ्य में चला जाता है।

कुछ ही महीनों में हमें **समाधितन्त्र** का यह तीसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा। यह इस बात का संकेत है कि पाठक इस ग्रन्थ को पढ़ना तो चाहते थे, उन्हें बस एक अच्छे और मर्यादा में रहनेवाले अनुवाद की तलाश थी।

यशोधर मोदी

प्रस्तावना

आचार्य पूज्यपाद की कृति **समाधितन्त्र** से गुज़रना अपने भीतर एक यात्रा करना है। यह ग्रन्थ हमें वहाँ ले जाता है जहाँ न राग की आपाधापी है और न द्वेष का कुहराम, जहाँ पहुँचकर हमारे तमाम भय और भ्रम दूर हो जाते हैं और जो फालतू है, ओढ़ा हुआ है वह पीछे छूट जाता है, जहाँ हम अपनी आत्मा के पास और साथ होते हैं - निर्विकल्प, निश्चल और शान्त। आचार्य पूज्यपाद की आत्मानुभूति ही जैसे **समाधितन्त्र** की कविता में रूपान्तरित हो गई है। इसलिए हम उसके साथ सहज ही वहाँ तक चले चलते हैं जहाँ तक वह हमें ले जाना चाहती है। वह हमारे साथ चलती भी ऐसे नामालूम तरीक़े से है कि हमें अहसास ही नहीं होता कि वह साथ चल रही है। **समाधितन्त्र** की दुनिया स्व-भाव और स्व-रूप की छायादार दुनिया है। बनावट, दिखावा और साज़ो-सामान की उपभोक्तावादी चिलचिलाती धूप वहाँ नहीं है। अगर कुछ है तो वह अपने सार्थक होने का, अपने घर पहुँचने का शीतल अहसास है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार का अनुवाद करने के बाद लगता था, यह तो मुख्यत: बाहर की यात्रा हुई। एक यात्रा भीतर की भी होनी चाहिए। हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय ने आचार्य पूज्यपाद की कृति **समाधितन्त्र** की ओर ध्यान दिलाया। ईसा की पाँचवीं सदी में कर्नाटक प्रदेश के कोले नामक गाँव में श्रीदेवी और माधव भट्ट नामक माता-पिता के पुत्र पूज्यपाद का प्राथमिक नाम देवनन्दी था। बुद्धि की प्रखरता और प्रकर्ष के कारण शीघ्र ही उनका नाम जिनेन्द्र बुद्धि पड़ गया। कहा जाता है कि सर्प के मुँह में फँसे हुए मेढक को देखकर उन्हें वैराग्य हुआ और उन्होंने जिनधर्म ही नहीं जिनदीक्षा भी ग्रहण कर ली। देवता उनके चरण पूजते हैं, इस जन विश्वास ने जिनेन्द्र बुद्धि को ही आगे चलकर पूज्यपाद के नाम से विख्यात कर दिया।

आचार्य पूज्यपाद का समय कुन्दकुन्द और समन्तभद्र के बाद का है। उन दोनों के प्रभाव पूज्यपाद की रचनाओं में लक्षित होते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी बहुमुखी रचनाशीलता के चलते व्याकरण, छन्द:शास्त्र, वैद्यक जैसे विषयों पर भी लिखा। उनके **जैनेन्द्र व्याकरण**, **सर्वार्थसिद्धि** और **इष्टोपदेश** नामक ग्रन्थों को भरपूर प्रसिद्धि मिली। **समाधितन्त्र** उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय, प्रसिद्ध और उनके जीवन की कदाचित् अन्तिम रचना है। १०५ छन्दों की इस कृति को छन्द संख्या के आधार पर समाधिशतक भी कहा गया है। इसमें

आचार्य की काव्य-प्रतिभा और साधना की ही नहीं मुक्ति के पथ पर तेज़ बढ़ते उनके क़दमों की आवाज़ भी साफ सुनाई देती है।

अनुवाद कार्य में ख़ुद आचार्य पूज्यपाद ने मेरी कम सहायता नहीं की। **समाधितन्त्र** की उनकी रचना जैसे-जैसे आगे बढ़ती गई है उसकी भाषा और अभिव्यक्ति सरलतर होती *गई है। कई जगह लगता है जैसे छन्द नहीं मन्त्र और सूत्र सामने खुलते जा रहे हैं।* खुशी है कि मैं **समाधितन्त्र** को हिन्दी में अनूदित कर सका। कोशिश की है कि अनुवाद मूल से उतना भी दूर न जाए जितना जहाज़ का पंछी जहाज़ से दूर जाता है। मैंने चाहा है कि मूल रचनाकार का आशय और कथ्य बिना किसी बाधा और आडम्बर के पाठक तक पहुँचे।

यह भी खुशी है कि यह पुस्तक प्रकाशन के पूर्व संस्कृत की परम्परागत विद्वत्ता एवं आधुनिक सोच के धनी श्रीयुत गिरीश जानी और जैन तत्त्व के युवा अध्येता एवं चिन्तक श्री मनीष मोदी की पैनी नज़र से गुज़री है।

समाधितन्त्र का दो वर्षों में तीसरा संस्करण निकल रहा है यह जानकर ख़ुशी हुई।

जयकुमार जलज

30 इन्दिरा नगर

रतलाम

मध्य प्रदेश

457 001

दूरभाष : 07412-260911, 07412-404208,
098936 35222

ई-मेल : jaykumarjalaj@yahoo.com

THIS BOOK IS DEDICATED TO BAL PATIL

JAIN SCHOLAR, ECONOMIST, JOURNALIST

AND CHAMPION OF THE JAIN MINORITY CAUSE

AUTHOR, *JAYA GOMMATESA*

AUTHOR, *JAINISM: AN ETERNAL PILGRIMAGE*

CO-AUTHOR, *JAINISM* WITH PROF. COLETTE CAILLAT AND

PROF. A. N. UPADHYE

PROUD TO BE A PROTÉGÉ OF PROF. A. N. UPADHYE

आचार्य पूज्यपाद कृत

समाधितन्त्र

येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

जो आत्मा को आत्म रूप में और आत्मा से इतर अथवा पर को इतर अथवा पर रूप में जानते हैं उन अनन्त ज्ञान स्वरूप और अविनाशी सिद्धात्मा को मैं पूज्यपाद नमन करता हूँ।

जयन्ति यस्यावदताऽपि भारती
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

न बोलते हुए भी जिनकी वाणी और कोई इच्छा न होते हुए भी जिनकी अन्य विभूतियाँ विजेता होती हैं उन ब्रह्मा, सुगति प्राप्त विष्णु, शिव और जिन रूप सशरीर शुद्धात्मा अरिहन्त को भी मैं पूज्यपाद नमन करता हूँ।

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।
समीच्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

मैं पूज्यपाद आत्मा के शुद्ध स्वरूप को शास्त्र, अनुमान और एकाग्र मन से अनुभव करके अपनी शक्ति के अनुसार उन व्यक्तियों के लिए इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ जिन्हें निर्मल और अतीन्द्रिय सुख की आकांक्षा है।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥४॥

सभी प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस प्रकार आत्मा के तीन प्रकार होते हैं। इनमें अन्तरात्मा द्वारा बहिरात्मा का त्याग करके उपायपूर्वक परमात्मा को अंगीकार किया जाना चाहिए।

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

शरीर आदि को ही आत्मा समझनेवाला बहिरात्मा है। चित्त के रागद्वेष आदि दोषों और आत्मा के बारे में निर्भ्रान्त रहने वाला अन्तरात्मा है और जो कर्ममल से रहित अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है।

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

परमात्मा कर्ममल से रहित, पूर्ण विशुद्ध, शरीर और कर्म के स्पर्श से परे, इन्द्रियों का स्वामी, अक्षय, परम पद में स्थित, उत्कृष्ट आत्म तत्त्व, ईश्वर और जिन है।

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

बहिरात्मा व्यक्ति इन्द्रियों से परिचालित और आत्मज्ञान से विमुख होता है। इसलिए वह अपने शरीर को ही अपनी आत्मा समझता है।

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥

मूर्ख बहिरात्मा व्यक्ति मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, तिर्यञ्च देह में स्थित आत्मा को तिर्यञ्च, देव शरीर में स्थित आत्मा को देव और नारकी देह में स्थित आत्मा को नारकी मानता है। किन्तु तत्त्वतः ऐसा नहीं है। आत्मा तो अपने आप में अनन्तानन्त ज्ञान और शक्ति की धारक है। वह अचल है और खुद अपने ही द्वारा अनुभव किए जाने योग्य है।

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥

मूर्ख बहिरात्मा व्यक्ति अपने भीतर आत्मा को अधिष्ठित करने वाली अन्य व्यक्ति

की चेतना रहित देह को भी अपनी देह की तरह ही देख कर उसे उसकी आत्मा समझ लेता है।

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ।।११।।

आत्मा के स्वरूप को नहीं समझने वाले मनुष्यों द्वारा अपनी और दूसरों की देहों को ही आत्मा मान लेने से उन्हें सदैव पत्नी, पुत्र आदि के सम्बन्ध में विभ्रम होता रहता है।

अविद्यासञ्ज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ।।१२।।

उक्त विभ्रम से उनमें अविद्या नामक संस्कार दृढ़तर होता जाता है। इस कारण जन्मान्तर में भी वे शरीर को ही आत्मा मानते रहते हैं।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ।।१३।।

शरीर को ही आत्मा समझनेवाला बहिरात्मा व्यक्ति अपनी आत्मा को शरीर के साथ जोड़ता/बाँधता रहता है। इसके विपरीत अपनी आत्मा को ही आत्मा समझनेवाला अन्तरात्मा व्यक्ति उसे शरीर के संबंध से पृथक् मानता/समझता है।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत्।।१४।।

शरीरों को ही आत्मा समझने के कारण 'मेरी पत्नी, मेरा पुत्र' आदि परिकल्पनाएं उत्पन्न होती हैं। इनके कारण बहिरात्मा व्यक्ति उनकी सम्पत्ति को भी अपनी सम्पत्ति मानने लगता है। दुःख की बात है कि इन परिकल्पनाओं और मान्यताओं से ही यह संसार नष्ट हो रहा है।

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ।।१५।।

शरीर को आत्मा मानना ही संसार के दुःखों का कारण है। इसलिए इसे छोड़कर और बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर आत्मा में प्रवेश करना चाहिए।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥१६॥

मैं अनादि काल से इन्द्रियों के कारण अपने आत्म-स्वरूप से हटकर विषयों में फँसता रहा हूँ। उन विषयों को अपना उपकारी समझने के चक्कर में मैंने कभी समझा ही नहीं कि मैं आत्मा ही हूँ।

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

बाह्यार्थ वाचक प्रवृत्ति और आभ्यन्तर ऊहापोह को आगे कही जाने वाली रीति के अनुसार सम्पूर्णतः छोड़ देना चाहिए। संक्षेप में यही आभ्यन्तर योग है और यही परमात्मा के स्वरूप का प्रकाशक है।

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।।
जानन्न दृश्यते रूपं तत केनः ब्रवीम्यहम्॥१८॥

जो रूप मुझे दिखाई देता है वह अचेतन होने से कुछ भी नहीं जानता और जो जानता है वह चैतन्य रूप मुझे दिखाई नहीं देता। इसलिए मैं वार्तालाप किससे करूँ?

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥

मैं जो दूसरों के द्वारा प्रतिपादित किया जाता हूँ और जो कुछ मैं दूसरों को प्रतिपादित करता हूँ वे सब उन्मत्त चेष्टाएं हैं, क्योंकि मैं वाणी के विकल्पों में बंध ही नहीं सकता।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥२०॥

जो अग्राह्य को ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किए हुए (अनन्त ज्ञानादि गुणों) को छोड़ता नहीं तथा जो सब को सब प्रकार से जानता है वही अपने द्वारा ही अनुभव में आने योग्य (शुद्धात्मा) मैं हूँ।

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥२१॥

शरीर को आत्मा समझने का भ्रम होने पर पूर्व में मेरी चेष्टाएं उस व्यक्ति की तरह हुआ करती थीं जिसे वृक्ष के ठूँठ में मनुष्य का भ्रम हो गया हो।

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथा चेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

शरीर को आत्मा समझने के भ्रम से मुक्त होने पर अब मेरी चेष्टाएं उस व्यक्ति की तरह हैं जो वृक्ष के ठूँठ को मनुष्य समझने के भ्रम से मुक्त हो गया है।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

जिस आत्मा के द्वारा मैं स्वसंवेदन ज्ञान के माध्यम से अपनी आत्मा में ही आत्मा को अनुभव करता हूँ वही मैं हूँ। मैं न तो नपुंसक हूँ, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ, न एक हूँ, न दो हूँ और न बहुत हूँ। दरअसल मैं निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने से लिंगभेद, वचनभेद आदि से परे हूँ।

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

जिस शुद्धात्म-स्वरूप के अभाव में मैं नींद में गाफ़िल था और जिसके प्राप्त होने पर मैं जागृत हो गया हूँ वह न तो इन्द्रियों से ग्राह्य है और न शब्दों की पकड़ में आता है। वह तो स्वयं के द्वारा स्वयं का अनुभव करने योग्य है। वही शुद्धात्म-स्वरूप मैं हूँ।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा को, जो मैं ही हूँ, वस्तुतः अनुभव करने वाले व्यक्ति के इस जन्म में ही राग द्वेष आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिए न मेरा कोई शत्रु है, न मित्र है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

वे व्यक्ति जो मेरे आत्म-स्वरूप को नहीं देखते/ समझते मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं और वे जो उसे देखते/समझते हैं वे भी मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं।

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ॥२७॥

बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा में स्थित रहते हुए तमाम संकल्प-विकल्पों से रहित होकर परम आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

उस परमात्मा में भावना करते रहने से 'वह मैं हूँ' इस प्रकार का संस्कार प्राप्त होता है। यह भावना बार-बार की जाय तो वह संस्कार दृढ़ होता है और स्वयं में परमात्मा की अवस्थिति प्राप्त होती है।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥

अज्ञानी व्यक्ति देह, पत्नी, पुत्र आदि जिनमें भी विश्वास करता है वस्तुतः वे ही आत्मा के लिए भय के स्रोत हैं और जिस परमात्मा से वह भयभीत रहता है वही आत्मा को अभय देने वाली एकमात्र शक्ति है।

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयमित करने पर स्थिर हुए अन्तःकरण को क्षण मात्र के लिए जो आभासित होता है वही परमात्मा का तत्त्व है।

य: परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्य: कश्चिदितिस्थिति: ॥३१॥

जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इसलिए स्थिति यह है कि मैं ही अपना उपास्य हूँ, और कोई मेरा उपास्य नहीं है।

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥३२॥

मैंने अपने में ही स्थित परमानन्द से परिपूर्ण स्वयं को (अपनी आत्मा को) विषयों से विमुख कर स्वयं को (अपने आत्म-स्वरूप को) प्राप्त किया है।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तप: ॥३३॥

जो अविनश्वर आत्मा को (नश्वर) देह से भिन्न नहीं समझता, वह घोर तप करके भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते॥३४॥

आत्मा और देह की पृथक्ता के ज्ञान से उत्पन्न आनन्द में डूबे हुए व्यक्ति को तपस्या के घोर कष्टों को सहन करने में कोई खेद नहीं होता।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत् तत्त्वं नेतरो जन: ॥३५॥

जिस व्यक्ति के मन रूपी जल को रागद्वेष आदि की लहरें चंचल नहीं कर पातीं, सिर्फ वही व्यक्ति आत्म-तत्त्व को देख पाता है, अन्य कोई व्यक्ति नहीं।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्तत: ॥३६॥

अविक्षिप्त यानी राग द्वेष से रहित और देह तथा आत्मा की पृथक्ता में विश्वास करने

वाला स्थिर मन ही आत्म-तत्त्व है। इसके विपरीत विक्षिप्त मन आत्म-तत्त्व का विभ्रम है। इसलिए अविक्षिप्त मन को धारण करना चाहिए। विक्षिप्त मन का आश्रय नहीं लेना चाहिए।

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

अज्ञान, अज्ञान के अभ्यास और उससे उत्पन्न संस्कारों के कारण मन स्वाधीन नहीं रहता। विक्षिप्त हो उठता है। लेकिन वही ज्ञान के संस्कारों के कारण खुद-ब-खुद आत्म-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो तस्य चेतसः ॥३८॥

जिसके मन में विक्षेप होता है उसे ही मानापमान की प्रतीति होती है। जिसके मन में विक्षेप नहीं होता उसे मानापमान की अनुभूति ही नहीं होती।

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥

जब कभी मोहनीय कर्म के उदय से किसी तपस्वी के मन में राग-द्वेष उत्पन्न हो जाएं तब वह उसी समय अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करे, उसकी भावना करे। इससे राग-द्वेषादि क्षण भर में शान्त हो जाएंगे।

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अगर देह के प्रति अनुराग उत्पन्न हो तो साधक आत्मा को भेदविज्ञान के आधार पर देह से पृथक् अनुभव करता हुआ अपनी आत्मा को उत्तम यानी चिदानन्द से युक्त अपनी काया में अवस्थित अपने आत्मस्वरूप पर केन्द्रित करे। ऐसा करने से देह के प्रति उपजा अनुराग नष्ट हो जाएगा।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥४१॥

स्वयं को देह समझने की भ्रान्ति से जो दुःख पैदा होता है वह आत्म-ज्ञान से, आत्मा को देह से पृथक् अनुभव करने से शान्त हो जाता है। जो व्यक्ति इस दिशा में उन्मुख और यत्नशील नहीं होते उन्हें उत्कृष्ट तप करने पर भी निर्वाण प्राप्त नहीं होता।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

शरीर को आत्मा समझनेवाला बहिरात्मा व्यक्ति सुन्दर शरीर और दिव्य भोगों की कामना करता है। इसके विपरीत तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा व्यक्ति इनसे मुक्त होना चाहता है।

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥

देह आदि परपदार्थों में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप से च्युत होता हुआ निश्चित रूप से कर्मबन्धन में बँधता है। इसके विपरीत अपनी आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखने वाला अन्तरात्मा व्यक्ति देह आदि परपदार्थों के सम्बन्ध से च्युत होकर कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥

देह को ही आत्मा समझनेवाला अज्ञानी बहिरात्मा व्यक्ति दिखाई देने के आधार पर आत्मा को लिंग (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) रूप मानता है। इसके विपरीत आत्मज्ञानी अन्तरात्मा व्यक्ति मानता है कि वह सिर्फ आत्म-तत्त्व है। अनादि सिद्ध है और उसे शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता।

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

अन्तरात्मा व्यक्ति अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानता हुआ और उसे देह

आदि परपदार्थों से भिन्न अनुभव करता हुआ भी पूर्व के भ्रान्ति संस्कारों के कारण बाद में भी कभी-कभी भ्रान्त हो सकता है।

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

इस परिस्थिति में अन्तरात्मा व्यक्ति को सोचना चाहिए कि यह जो दृश्य संसार है वह अचेतन है और जो चैतन्य रूप आत्मा है वह अदृश्य है। इसलिए मैं किससे क्रोध करूँ और किसके साथ शान्त रहूँ? इसलिए मैं तो मध्यस्थ भाव धारण करके रहूँगा।

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

अज्ञानी बहिरात्मा व्यक्ति बाह्य पदार्थों का त्याग और ग्रहण करता है। जिसे अनिष्ट समझता है उसे छोड़ता है और जिसे इष्ट समझता है उसे ग्रहण करता है। इसके विपरीत आत्म-स्वरूप का ज्ञाता अन्तरात्मा व्यक्ति आध्यात्मिक त्याग और ग्रहण करता है। यानी राग-द्वेष को त्यागता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप निज भावों को ग्रहण करता है। लेकिन इन दोनों से भिन्न शुद्ध स्वरूप में अवस्थित परमात्मा अन्तरंग, बहिरंग आदि किसी पदार्थ का न त्याग करता है और न ग्रहण करता है।

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

आत्मा को मन अर्थात् चित्त से जोड़ना चाहिए। उसे वचन और काया से अलग समझना चाहिए। वचन और काया द्वारा किए गए व्यवहार में चित्त को नहीं लगाना चाहिए।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥

देह को ही आत्मा समझनेवाले बहिरात्मा व्यक्ति को बाह्य जगत रमणीय और

विश्वसनीय लगता है। परन्तु आत्मा में ही दृष्टि रखनेवाले अन्तरात्मा व्यक्ति को परपदार्थों में न तो विश्वास होता है और न आसक्ति।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

आत्मज्ञान से इतर कोई भी कार्य बुद्धि में अधिक समय तक नहीं बनाए रखना चाहिए। अगर अपने या दूसरे के उपकार की दृष्टि से काया और वचन के द्वारा कुछ करना ही पड़े तो उसे अनासक्त भाव से करना चाहिए।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्॥५१॥

जो कुछ (शरीर आदि बाह्य पदार्थों को) मैं इन्द्रियों के द्वारा देखता हूँ वह मैं नहीं हूँ। लेकिन इन्द्रियों के व्यापार को रोककर जिस श्रेष्ठ आनन्दमय ज्ञान प्रकाश को अन्तरंग में देखता हूँ वही मैं हूँ।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥५२॥

आत्मभावना के अभ्यासी को शुरू में कभी-कभी बाह्य विषयों में सुख और आत्मभावना में दुःख भी मालूम पड़ सकता है। लेकिन भावना का अच्छा अभ्यास हो जाने पर उसे बाह्य विषयों में दुःख का और आत्मस्वरूप के चिन्तन में सुख का ही अनुभव होगा।

तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥५३॥

आत्मभावना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति सदैव आत्मस्वरूप का ही कथन करे, आत्मस्वरूप के बारे में ही (दूसरे आत्मज्ञानियों से) पूछे, आत्मस्वरूप को ही पाने की इच्छा करे, आत्मस्वरूप के लिए ही तत्पर रहे। इससे वह अज्ञानमय बहिरात्म-रूप से छूटकर ज्ञानमय अन्तरात्म-रूप को प्राप्त कर लेगा।

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥५४॥

वाणी और शरीर में भ्रमित व्यक्ति वाणी और शरीर में आत्मा को तलाशता है। इसके विपरीत वाणी और शरीर के यथार्थ को समझनेवाला व्यक्ति इन तत्त्वों (वाणी और शरीर) को आत्मा से पृथक् समझता है।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

इन्द्रिय विषयों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो आत्मा का भला करने वाला हो। तो भी अज्ञानी व्यक्ति अज्ञान भावना के कारण इन्द्रिय विषयों में ही आसक्त रहता है।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥५६॥

मिथ्यात्व (अज्ञान) रूपी अंधकार के कारण अज्ञानी जीव अनादिकाल से हीन पर्यायों में सोए हुए दुःख भोग रहे हैं। यदि कदाचित् कोई जाग भी रहे हैं तो वे अनात्मीय को जैसे पत्नी, पुत्र आदि को अपना और अनात्मभूत को यानी जो आत्मा नहीं है उस शरीर आदि को 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मान रहे हैं।

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥५७॥

अन्तरात्मा व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर अपनी देह को सदैव इस रूप में देखे कि यह मेरी आत्मा नहीं है और दूसरे प्राणियों की देह को भी अनात्म बुद्धि से ही इसी रूप में देखे कि उनकी भी देह उनकी आत्मा नहीं है।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥

अन्तरात्मा व्यक्ति सोचता है कि मूर्ख अज्ञानी जन मेरे बिना बताए तो मुझे-मेरे आत्मस्वरूप को जानते ही नहीं हैं, बतलाए जाने पर भी नहीं जानते हैं। इसलिए इन्हें कुछ बतलाने में परिश्रम करना व्यर्थ है।

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

जो मैं समझा सकता हूँ वह मैं नहीं हूँ। वह मेरा आत्मस्वरूप नहीं है और जो आत्मस्वरूप मैं हूँ वह दूसरे जीवों को उपदेशों से ग्राह्य नहीं है। इसलिए दूसरे जीवों को भला मैं क्या समझाऊँ?

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥

भीतर की ज्ञान ज्योति मोहाच्छादित होने के कारण बहिरात्मा व्यक्ति बाह्य पदार्थों (शरीरादि) में ही आनन्द मानता है। इसके विपरीत जागृत अन्तरात्मा व्यक्ति बाह्य पदार्थों में कोई रुचि नहीं लेता। वह अपने अन्तरंग में, अपने आत्मस्वरूप में ही आनन्दित रहता है।

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥

शरीरों को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। वे निग्रह-अनुग्रह को नहीं समझते। फिर भी अज्ञानी बहिरात्मा व्यक्ति उपवास आदि के द्वारा उनका निग्रह करने (दण्ड देने) और वस्त्राभूषण पहनाकर उन पर अनुग्रह करने की बुद्धि रखता है।

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

जब तक शरीर, वाणी और मन को आत्मा समझा जाता है तभी तक संसार है। जब इनको आत्मा से भिन्न समझने का अभ्यास शुरू होता है तब मुक्ति का द्वार खुलता है।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

मोटे कपड़े पहन लेने पर कोई व्यक्ति खुद को मोटा नहीं समझने लगता। उसी प्रकार अन्तरात्मा ज्ञानी व्यक्ति शरीर के ताक़तवर हो जाने को आत्मा की ताक़त नहीं मानता।

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

जिस प्रकार अपने पहने हुए वस्त्र के जीर्ण हो जाने पर ज्ञानी व्यक्ति अपने शरीर को जीर्ण हुआ नहीं मानता उसी प्रकार अपने शरीर के जीर्ण हो जाने पर वह अपनी आत्मा को भी जीर्ण हुआ नहीं मानता।

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

जिस प्रकार वस्त्र के नष्ट हो जाने पर ज्ञानी व्यक्ति अपने शरीर को नष्ट हुआ नहीं मानता उसी प्रकार वह अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर अपनी आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता।

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

जिस प्रकार लाल रंग के वस्त्र पहनने पर ज्ञानी व्यक्ति अपने शरीर को लाल नहीं मानता उसी प्रकार अपने शरीर के लाल होने पर वह अपनी आत्मा को भी लाल रंग का नहीं मानता।

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥

जब व्यक्ति को क्रियाओं और चेष्टाओं से भरा हुआ यह संसार निष्चेष्ट तथा चेतना, क्रिया और भोग से रहित प्रतीत होने लगता है तब उसे शान्ति सुख का अनुभव होता है। उससे भिन्न व्यक्ति को शान्ति सुख का अनुभव नहीं होता।

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥

बहिरात्मा व्यक्ति की ज्ञानमूर्ति आत्मा कार्मण शरीर रूपी केंचली से ढँकी हुई है। ऐसा व्यक्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। फलस्वरूप उसे लम्बे समय तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है। वह बार-बार जन्म और मरण से गुज़रता है।

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ।।६६ ।।

परमाणुओं के समूह शरीर में प्रवेश करते और बाहर निकलते रहते हैं। फिर भी शरीर की आकृति समान बनी रहती है। इस स्थिति से भ्रम में पड़कर अज्ञानी व्यक्ति शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम्।।७० ।।

मैं गोरा हूँ, मोटा हूँ, पतला हूँ- इस प्रकार शरीर के साथ आत्मा को एकरूप न करते हुए सदैव केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही चित्त में धारण करना चाहिए।

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ।।७१ ।।

जिस व्यक्ति के चित्त में आत्मा की अविचल धारणा है उसकी अनिवार्यतः मुक्ति होती है। जिसकी ऐसी धारणा नहीं है उसकी अनिवार्यतः मुक्ति नहीं होती।

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।।७२ ।।

लोगों के संसर्ग में आने पर वाणी की प्रवृत्ति होती है। वाणी की प्रवृत्ति होने पर मन चंचल होता है। मन के चंचल होने पर मन में विकल्प उठते हैं। इसलिए योगी को चाहिए कि वह (योगाभ्यास के वक़्त) लौकिक जनों का संसर्ग न करे।

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ।।७३ ।।

जिन्हें आत्मा की अनुभूति नहीं हुई है उन्हें गांव और जंगल इन दो प्रकार के निवासों के विकल्प हो सकते हैं। इसके विपरीत जिन्हें आत्मा की अनुभूति हो चुकी है उनके लिए तो विशुद्ध और अविचल आत्मा ही एक मात्र निवास है।

देहान्तरगते बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

देह को ही आत्मा समझना पुनः देह धारण करने का मूल कारण है। इसके विपरीत आत्मा को ही आत्मा समझना पुनः देह धारण करने से छुटकारा पाने का मूल कारण है।

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

देह को ही आत्मा समझने के कारण बार-बार जन्म लेने के लिए व्यक्ति खुद ही ज़िम्मेदार है और आत्मा को ही आत्मा समझने के कारण खुद को इससे मुक्ति दिलाने के लिए भी वही ज़िम्मेदार है। इसलिए व्यक्ति खुद अपना गुरु है। दूसरा कोई उसका गुरु नहीं है।

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

देह आदि को ही दृढ़तापूर्वक आत्मा समझने के कारण बहिरात्मा व्यक्ति अपनी मौत और मित्रादि के वियोग से बहुत डरता है।

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम् ॥७७॥

आत्मा को ही आत्मा समझनेवाला अन्तरात्मा व्यक्ति देह की गति यानी उसकी बाल्य अवस्था, युवा अवस्था और मृत्यु आदि परिणतियों को अपनी आत्मा से भिन्न मानता है। इसलिए वह मृत्यु को एक वस्त्र का त्याग और दूसरे वस्त्र का ग्रहण समझकर निर्भय बना रहता है।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

लोक व्यवहार के मामले में सोया हुआ अयत्नशील व्यक्ति आत्मा के मामले में जागृत और तत्पर रहता है। इसके विपरीत जो लोक व्यवहार के मामले में जागृत यानी सावधान रहता है वह आत्मा के मामले में सोया हुआ अयत्नशील रहता है।

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत्॥७९॥

आत्मा को अभ्यन्तर में और शरीरादि को बाह्य में देखने के भेदविज्ञान और इस भेदविज्ञान के अभ्यास से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्॥८०॥

आत्मदर्शन कर चुके योगी व्यक्ति को शुरू में यह संसार पागल जैसा और बाद में आत्मस्वरूप का परिपक्व अभ्यास हो जाने पर काठ तथा पत्थर जैसा प्रतीत होता है।

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक्॥८१॥

आत्मा के स्वरूप को उपाध्याय आदि गुरुओं से जी भर कर सुनने और अपने मुख से दूसरों को बतलाने पर भी जब तक जीव शरीरादि से आत्मा की भिन्नता को अनुभव नहीं करता तब तक वह मोक्ष का अधिकारी नहीं होता।

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥८२॥

व्यक्ति को चाहिए कि वह आत्मा को शरीर से भिन्न और पृथक् अनुभव करके आत्मा में ही आत्मा की इतनी भावना करे कि फिर स्वप्न में भी वह शरीर को आत्मा समझने की भूल न कर सके।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥८३॥

अव्रतों से पाप का और व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है और जहाँ पाप तथा पुण्य दोनों समाप्त हो जाते हैं वहाँ मोक्ष है। इसलिए मोक्ष का इच्छुक व्यक्ति अव्रतों की तरह व्रतों का भी परित्याग कर सकता है।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४ ॥

व्यक्ति अव्रतों को छोड़कर व्रतों में निष्ठा रखे। उनका दृढ़ता से पालन करे। फिर आत्मा के परम वीतराग पद को प्राप्त करके उन व्रतों को भी छोड़ दे।

यदन्तर्जल्पसम्पृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५ ॥

अन्तरंग में वाणी व्यापार से युक्त विकल्प अथवा कल्पनाओं का जाल आत्मा के दुःख का मूल कारण है। उसके नष्ट होने पर हितकारी और प्रिय परम पद की प्राप्ति होती है।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६ ॥

अव्रती को व्रत धारण करके व्रती बनना चाहिए। व्रती को ज्ञान-भावना में लीन होना चाहिए। ज्ञान-भावना में लीन व्यक्ति को केवल-ज्ञान से सम्पन्न होना चाहिए और केवल-ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को सिद्ध पद प्राप्त करना चाहिए।

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७ ॥

बाहरी चिह्न (जैसे जटाजूट धारण करना) देह से जुड़े हुए हैं। देह ही आत्मा का संसार यानी बन्धन है। इसलिए जिन्हें बाहरी चिह्नों का आग्रह है वे व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होते।

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८ ॥

जातियाँ (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) भी देह से जुड़ी हुई हैं। देह ही आत्मा का संसार यानी बन्धन है। इसलिए जिन्हें जाति का आग्रह है वे व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होते।

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

कुछ लोगों का शास्त्रीय आग्रह होता है कि जाति, वेश के विकल्प से मुक्ति मिलती है अर्थात् अमुक जाति को अमुक वेश धारण करने से मुक्ति मिलेगी। ऐसे व्यक्तियों को भी आत्मा के परम पद की प्राप्ति नहीं होती।

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

शरीर का मोह त्यागने और वीतरागता को पाने के लिए इन्द्रिय भोगों का त्याग किया जाता है। लेकिन मोहग्रस्त व्यक्ति शरीर से प्रेम और वीतरागता से द्वेष रखता है।

अनन्तरज्ञः सन्धत्ते दृष्टिं पङ्गोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि सन्धत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥

भेदविज्ञान न जाननेवाला व्यक्ति जैसे संयोग के कारण भ्रमित होकर लँगड़े की दृष्टि को अंधे में आरोपित कर बैठता है वैसे ही वह आत्मा की दृष्टि को शरीर में आरोपित कर लेता है और समझने लगता है कि शरीर ही देख/समझ रहा है।

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥

भेदविज्ञान को जाननेवाला व्यक्ति जिस प्रकार लँगड़े की दृष्टि को अंधे से नहीं जोड़ता उसी प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझनेवाला व्यक्ति आत्मा की दृष्टि को, उसके ज्ञानदर्शन स्वभाव को शरीर के साथ संयुक्त नहीं करता। उन्हें शरीर की विशेषताएं नहीं मानता।

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥९३॥

जो आत्म-स्वरूप के द्रष्टा नहीं हैं उन बहिरात्मा व्यक्तियों को केवल सोने और उन्मत्त होने की अवस्थाएं ही विभ्रम (भ्रम रूप) मालूम पड़ती हैं। लेकिन आत्म-स्वरूप के द्रष्टा अन्तरात्मा

व्यक्ति को मोहग्रस्त बहिरात्मा व्यक्ति की सभी अवस्थाएं विभ्रम मालूम पड़ती हैं।

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

शरीर को ही आत्मा समझनेवाला बहिरात्मा व्यक्ति सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता होने और जागृत रहने पर भी कर्म बन्धन से मुक्त नहीं होता। इसके विपरीत आत्म-ज्ञाता अन्तरात्मा व्यक्ति नींद और उन्माद की अवस्था में भी कर्मबन्धन से मुक्त होता है।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

जिस विषय में व्यक्ति की बुद्धि संलग्न और सावधान रहती है उस विषय में उसकी श्रद्धा हो जाती है। जिस विषय में उसकी श्रद्धा हो जाती है उसी विषय में उसका चित्त भी लीन हो जाता है।

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

जिस विषय में व्यक्ति की बुद्धि संलग्न और सावधान नहीं रहती उस विषय से उसकी श्रद्धा हट जाती है। तब उस विषय में उसके चित्त की तल्लीनता कहाँ हो सकती है?

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

जिस प्रकार दीपक से भिन्न अस्तित्व रखनेवाली बाती दीपक की उपासना करके उसी की तरह हो जाती है उसी प्रकार अपने से भिन्न अरिहन्त सिद्ध रूप परमात्मा की उपासना करके यह आत्मा खुद भी परमात्मा बन जाती है।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥९८॥

अथवा जिस प्रकार बाँस का पेड़ खुद को खुद से ही रगड़कर आग बनता है उसी प्रकार यह आत्मा खुद अपने चैतन्य स्वरूप की उपासना करके परमात्मा बन जाती है।

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥९९॥

इस प्रकार भेद अथवा अभेद (भिन्न आत्मा और अभिन्न आत्मा) रूप से आत्मस्वरूप की निरन्तर भावना करनी चाहिए। इससे यह जीव उस अनिर्वचनीय परमात्म-पद को स्वतः प्राप्त कर लेगा जिससे उसका लौटकर आना नहीं होगा। उसे पुनर्जन्म से मुक्ति मिल जाएगी।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥१००॥

यह चैतन्य स्वरूप आत्मा अगर भूतज है यानी अगर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से उत्पन्न है अथवा सहज शुद्धात्म स्वरूप से उत्पन्न है तो फिर मृत्यु के साथ निर्वाण स्वतः हो जाएगा। उसके लिए प्रयत्न करने की ज़रूरत ही नहीं है। और अगर निर्वाण की प्राप्ति योग से अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध से होती है तो इसमें भी योगियों के लिए दुःख का सवाल नहीं है।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥

प्रत्यक्ष दिखनेवाले शरीर का स्वप्न में हुआ विनाश उसका सचमुच का विनाश कहाँ है? इसी प्रकार जागृत अवस्था में हुए शरीर के विनाश से आत्मा का विनाश कहाँ होता है? दोनों अवस्थाओं में एक ही जैसे भ्रम हैं।

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥

बिना कष्ट उठाए प्राप्त हुआ भेदविज्ञान कई बार शारीरिक कष्ट पड़ने पर क्षीण होने लगता है। इसलिए अन्तरात्मा व्यक्ति को चाहिए कि वह यथाशक्ति कष्ट-सहन का अभ्यास करता हुआ आत्मा को शरीर से भिन्न समझने का भावन करे। यानी कष्ट-सहन का अभ्यास करते हुए भेदविज्ञान को अनुभूति में उतारने की दिशा में आगे बढ़े।

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

आत्मा के राग-द्वेष-कषायों से प्रेरित होकर मन, वचन, काय के योग रूप प्रयत्न से वायु उत्पन्न होती है। उस प्राणवायु के प्रवर्तन से शरीर रूपी यन्त्र, अर्थात् इन्द्रियाँ एवं शरीर के अन्य अंग उपांग, अपना-अपना काम करते हैं।

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः ।
त्यक्त्वाऽऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥

मूर्ख बहिरात्मा व्यक्ति इन्द्रियों वाले उस शरीर यन्त्र का आत्मा पर आरोपण करके दुःख भोगता है। इसके विपरीत अन्तरात्मा व्यक्ति अपने ज्ञान के कारण ऐसे आरोपण की कल्पना को त्यागकर परमात्म पद प्राप्त कर लेता है।

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥१०५॥

यह समाधितन्त्र परमात्मपद की प्राप्ति का मार्ग है। इसे भली प्रकार हृदयंगम करके और परमात्म भाव में चित्त को स्थिर करके अन्तरात्मा व्यक्ति सांसारिक दुःखों को उत्पन्न करनेवाली उस बुद्धि को त्याग देता है जो शरीर को अपना और आत्मा को पराया समझती है। इस प्रकार वह संसार से मुक्त होता हुआ ज्ञानात्मक सुख को प्राप्त कर लेता है।

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक के आरम्भिक शब्द	श्लोक सं.
अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं	४६
अज्ञापितं न जानन्ति	५८
अदु:खभावितं ज्ञानं	१०२
अनन्तरज्ञ: सन्धत्ते	९१
अपमानादयस्तस्य विक्षेपो	३८
अपुण्यमव्रतै: पुण्यं	८३
अयत्नसाध्यं निर्वाणं	१००
अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं	३६
अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं	३७
अविद्यासञ्ज्ञितस्तस्मात्संस्कारा ..	१२
अव्रतानि परित्यज्य	८४
अव्रती व्रतमादाय	८६
आत्मज्ञानात्परं कार्यं	५०
आत्मदेहान्तरज्ञान..........	३४
आत्मन्येवात्मधीरन्यां	७७
आत्मविभ्रजं दु:ख	४१
आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा	७९
इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं ...	९९
उत्पन्नपुरुषभ्रान्ते: स्थाणौ	२१
उपास्यात्मानमेवात्मा जायते	९८
एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं	१७
क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो	२५
गौर: स्थूल: कृशो	७०
ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा	७३
घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं	६३
चिरं सुषुप्तास्तमसि	५६
जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं	४९
जनेभ्यो वाक् तत: स्पन्दो	७२
जयन्ति यस्यावदताऽपि	२
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा	८८
जातिलिङ्गविकल्पेन येषां	८९
जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं	४५
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं	६४
तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि ..	८२
तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो ..	५३
तान्यात्मनि समारोप्य	१०४
त्यक्त्वैवं बहिरात्मा........	२७
त्यागादाने बहिर्मूढ:	४७
दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मन: .	७६
दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्ग	४४
दृष्टभेदो यथा दृष्टिं	९२
देहान्तरगते बीजं	७४
देहेष्वात्मधिया जाता:	१४
देहे स्वबुद्धिरात्मानं	१३
न जानन्ति शरीराणि	६१
न तदस्तीन्द्रियार्थेषु	५५
नयत्यात्मानमात्मैव जन्म	७५
नरदेहस्थमात्मानमविद्वान्	८
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं	६५
नारकं नारकाङ्गस्थं	९
निर्मल: केवल: शुद्धो	६
परत्राहम्मति: स्वस्माच्च्युतो	४३
पश्येन्निरन्तरं देहमात्म	५७
पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य	८०
प्रच्याव्य विषयेभ्योहं	३२
प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् .	१०३
प्रविशद्गलतां व्यूहे	६९
बहिरन्त: परश्चेति	४
बहिरात्मा शरीरादौ	५
बहिरात्मेन्द्रियै	७
बहिस्तुष्यति मूढात्मा	६०
भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो	९७

श्लोक के आरम्भिक शब्द	श्लोक सं.
मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः	१६
मामपश्यन्नयं लोको	२६
मुक्तिरेकान्तिकी तस्य	७१
मुक्त्वा परत्र	१०५
मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो	२९
मूलं संसारदुःखस्य	१५
यः परात्मा स एवाऽहं	३१
यत्त्यागाय निवर्तन्ते	९०
यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं	१९
यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति	५१
यत्र काये मुनेः	४०
यत्रानाहितधीः पुंसः	९६
यत्रैवाहितधीः पुंसः	९५
यथाऽसौ चेष्टते	२२
यदग्राह्यं न गृह्णाति	२०
यदन्तर्जल्पसम्पृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः	८५
यदभावे सुषुप्तोऽहं	२४
यद् बोधयितुमिच्छामि..........	५९
यदा मोहात्प्रजायेते	३९
यन्मया दृश्यते रूपं	१८
यस्य सस्पन्दमाभाति	६७
युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं	४८
येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्म	२३
येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव ...	१
यो न वेत्ति परं	३३
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं	६६
रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं	३५
लिङ्गं देहाश्रितं	८७
विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि ...	९४
व्यवहारे सुषुप्तो	७८
शरीरकञ्चुकेनात्मा	६८

श्लोक के आरम्भिक शब्द	श्लोक सं.
शरीरे वाचि चात्मानं	५४
शुभं शरीरं दिव्यांश्च	४२
शृण्वन्नप्यन्यतः कामं	८१
श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति	३
सर्वेन्द्रियाणि संयम्य	३०
सुखमारब्धयोगस्य	५२
सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव	९३
स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा	१०
स्वपराध्यवसायेन	११
स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि	१०१
स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात्	६२
सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन्	२८

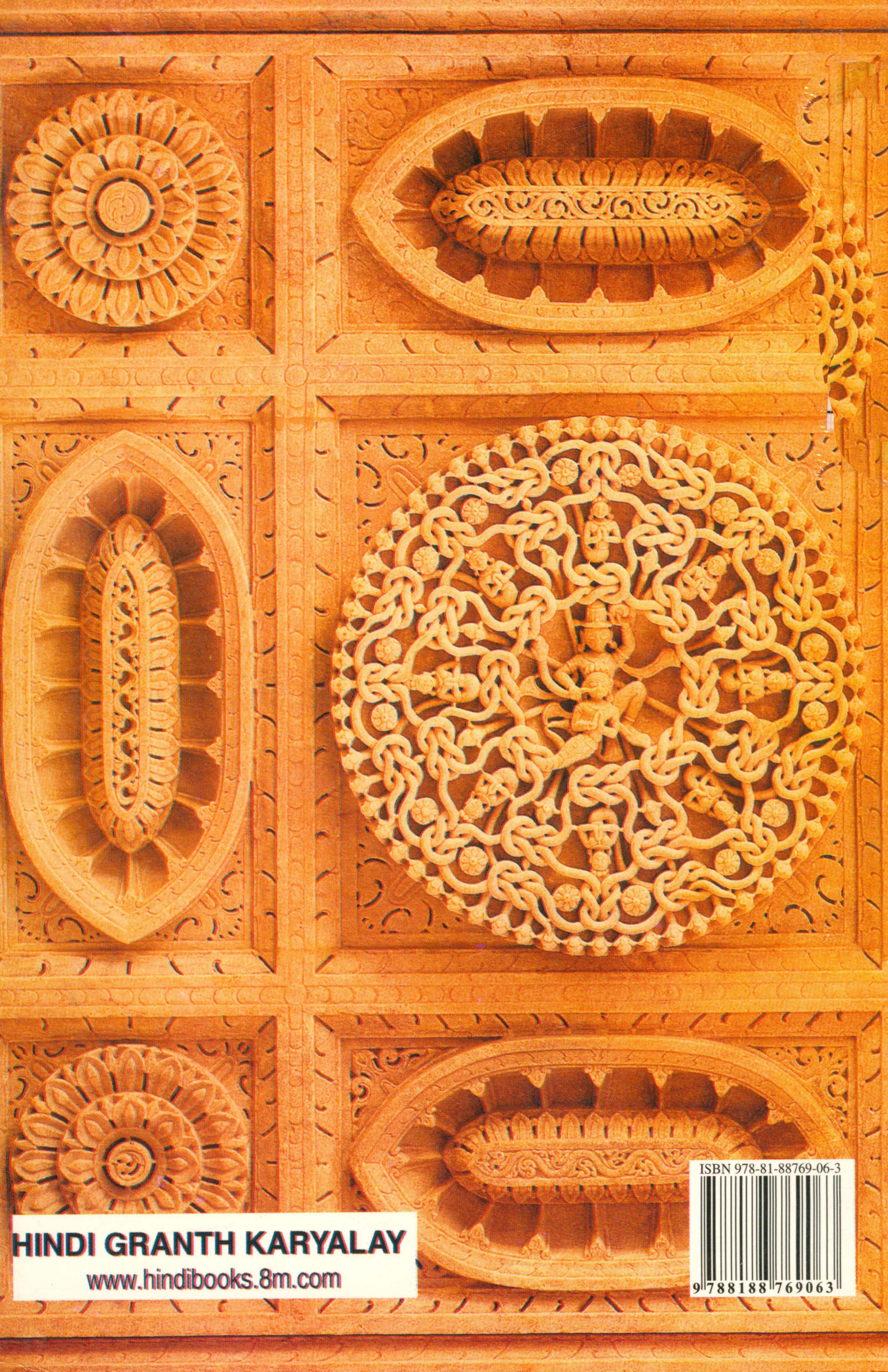

ISBN 978-81-88769-06-3

HINDI GRANTH KARYALAY
www.hindibooks.8m.com